व्यावहारिक वेदांत के प्रचारक—स्वामी रामतीर्थ

जिस समय स्वामी रामतीर्थ जापान होकर अमेरिका पहुँचे तो जहाज पर आपको बिना किसी तरह के सामान के देखकर एक अमेरिकन सज्जन को बड़ा आश्चर्य हुआ। तपस्या की ज्योति और प्रेम की भावना से परिपूर्ण ऐसा चेहरा उसने पहले कभी नहीं देखा था। वह उनके पास आकर पूछने लगा—

प्रश्न—आपका सामान कहाँ है ?

उत्तर—मेरे पास इतना ही सामान है—जो मेरे शरीर पर है।

प्रश्न—तो फिर आप अपना रुपया-पैसा कहाँ रखते हैं ?

उत्तर—मेरे लिए रुपया-पैसा अपने पास रखना मना है।

प्रश्न—आप कहाँ जायेंगे ? क्या आप अमेरिका में किसी को जानते हैं ? आपका कोई मित्र नहीं है ?

उत्तर—हाँ, मैं आपको जानता हूँ, आप ही मेरे मित्र हैं।

स्वामी जी के इस आंतरिक आत्म-भाव को देखकर वह अमेरिकन सज्जन, जिसका नाम मि० हिल्लर था, चकित रह गया। वह उसी क्षण उनका भक्त बन गया और उन्हें अपने साथ घर ले गया। स्वामीजी को उसने दो वर्ष तक अपने यहाँ रखा।

× × × ×

अमेरिका में ही एक महिला स्वामी राम से मिलने आई। वह बड़ी दुःखी थी, क्योंकि उसका बच्चा मर गया था। वह चाहती थी—'राम' उसका दुःख दूर करके सुखी होने का उपाय बता दें। स्वामी जी ने कहा—

"राम खुशी बेचता है, पर तुम्हें उसकी कीमत देनी होगी।"

स्त्री—आप जो कुछ माँगे, मैं देने को तैयार हूँ।

स्वामी जी—सुख के राज्य का सिक्का दूसरा ही है और तुम्हें राम के देश का ही सिक्का देना पड़ेगा।

स्त्री—हाँ, स्वामी जी ! आप जो कुछ माँगेंगे वही मैं दूँगी।

स्वामी जी—बहुत अच्छा, उस छोटे गरीब हब्शी (नीग्रो) बच्चे को ले लो, उसे अपने बच्चे की तरह प्यार करो और पालो। खुशी प्राप्त करने का बस यही इलाज है।

स्त्री—"ओह, यह तो बहुत मुश्किल है !" पर अंत में स्वामी जी की बात की सच्चाई उसकी समझ में आ गई और उसने काले लड़के को अपना बच्चा बना लिया। उसे प्यार करना और यत्नपूर्वक पालना शुरू किया। कुछ समय में वास्तव में वह अपना दुःख भूलकर प्रसन्न रहने लगी।

× × × ×

ये दो घटनाएँ बतलाती हैं कि स्वामी रामतीर्थ (सन् १८७३ से १९०६) आत्मसत्ता के बहुत उच्च स्तर तक पहुँच गये थे, जहाँ मनुष्य को कोई भी पराया नहीं जान पड़ता। सब जगह एक ही आत्मा का अस्तित्व और प्रभाव दिखाई पड़ता है। ऐसे महापुरुषों की दृष्टि में से अपना-पराया, मित्र-शत्रु, देशी-विदेशी, काला-गोरा, ऊँच-नीच का अंतर पूर्णतः निकल जाता है और वे सबको आत्म-स्वरूप में देखने लगते हैं। यद्यपि यह स्थिति हर एक व्यक्ति को प्राप्त हो सकनी बहुत कठिन है। पर यदि हम अपने जीवन को वास्तव में सुखी और सार्थक बनाना चाहें तो हमको इसी लक्ष्य की तरफ जहाँ तक संभव हो, अग्रसर अवश्य होना चाहिए। 'गीता' में भगवान् कृष्ण ने भी मानव जीवन की सर्वोच्च स्थिति यही बतलाई है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितिधीर्मुनिरुच्यते।। (२.५६)

अर्थात्—"जो विपरीत बातों से घबड़ाता नहीं और अनुकूल बातों के लिए भी चिंता नहीं करता और जिसने मित्रता-शत्रुता, क्रोध, भय आदि मानसिक निर्बलताओं को त्याग दिया है, वही वास्तविक ज्ञानी है।"

यद्यपि वर्तमान समय में अनेक व्यक्ति यह कहा करते हैं कि हिंदू धर्मशास्त्रों के अध्यात्म, वेदांत, योग संबंधी उपदेश मनुष्य को निर्बल और अकर्मण्य बनाने वाले हैं, पर इस कथन में सत्यता का

अंश बहुत कम है। स्वामी रामतीर्थ ने अपने जीवन और उपदेशों से यह सिद्ध करके दिखा दिया कि अध्यात्म और वेदांत-सिद्धांत मनुष्य को निर्बल बनाने के बजाय शक्ति और साहस का भंडार बना देते हैं और वह शक्ति भी ऐसी है कि जो अपना और अन्य समस्त मनुष्यों का कल्याण करती है। इस सिद्धांत पर प्रकाश डालते हुए स्वामी राम ने अमेरिका में अपने एक भाषण में कहा था—

"कुछ लोग कहते हैं कि वेदांत निराशावाद की शिक्षा देता है, वेदांत नाउम्मीदी, आलस्य, सुस्ती सिखाता है। राम की उन लोगों से प्रार्थना है कि अपना 'न्याय-शास्त्र' (तर्क) अपने ही पास रखें और दूसरों के हाथ अपनी बुद्धि न बेचें। वे अपनी बुद्धि को स्थिर रखते हुए विचार करें कि वेदांत की शिक्षा जीवन, शक्ति, उद्योग, सफलता का कारण होती है या किसी और चीज का ? यह प्रश्न मत करो कि भारत के निवासी इसका व्यवहार करते हैं या नहीं ? राम साफ कहते हैं कि यह केवल भारतीयों की संपत्ति नहीं है, इस पर हर एक का अधिकार है। यह अपना निजी जन्म-सत्त्व है। अमेरिका निवासी अपने व्यापारिक जीवन में इसका अधिक उपयोग करते हैं और इसी से उनको इस संबंध में अधिक सफलता होती है। भारतीय उतनी मात्रा में इसका व्यवहार नहीं करते और भौतिक दृष्टि से इसीलिए वे पिछड़े हुए हैं।"

"वेदांत और योग की प्राप्ति के लिए आपको जंगलों में जाने और असाधारण कार्यों का अभ्यास करने की कोई जरूरत नहीं है। जब तुम कर्म में डूबे हुए हों, जब किसी कर्तव्यपालन में पूर्णतः लीन हो, तब समझ लो कि तुम योगी जनक हो, तुम स्वयं शिव हो। वेदांत के अनुसार शरीर तुम्हारा है आत्मा नहीं है। क्या आप यह नहीं देखते कि आप तभी अत्युत्तम काम कर दिखाते हैं, जब आप उसमें इतने अधिक तन्मय हो जायें कि शरीर और मन का ध्यान ही न रहे।"

स्कूल और कॉलेज की शिक्षा—

स्वामी राम (जिनका पहला नाम तीर्थराम था) के लिए इस प्रकार का वेदांत केवल एक सिद्धांत न था। उसको उन्होंने किसी ग्रंथ में पढ़कर ग्रहण न किया था, वरन् उनका जीवन आरंभ से ही

'वेदांतमय' था। उनके पिता पं० हीरानंदजी की आर्थिक स्थिति बहुत साधारण थी, अतएव वे इनको उच्च शिक्षा नहीं दिला सकते थे। जब तक ये अपने गाँव मराली (गुजरानवाला, पंजाब) में रहे तब तक वहाँ के प्राइमरी स्कूल में एक मौलवी से उर्दू पढ़ते रहे। नौ वर्ष की आयु में शहर के हाईस्कूल में भरती करा दिये गये, जहाँ इनके पिता के एक मित्र धन्ना भगत इनकी देखभाल करते रहते थे।

पंद्रह वर्ष की आयु में इन्होंने इंट्रेन्स की परीक्षा पास कर ली, पंजाब प्रांत भर में सर्वप्रथम आये। इससे इनको विशेष छात्रवृत्ति मिल गई और उसी के आधार पर लाहौर के एक कॉलेज में एफ० ए० की पढ़ाई करने लगे। इनके पिता कॉलेज की पढ़ाई के लिए राजी न थे, इसलिए उन्होंने किसी प्रकार की आर्थिक सहायता देना कतई बंद कर दिया। ये पुस्तकों और फीस आदि का खर्च तो छात्रवृत्ति से पूरा करते थे और भोजन के लिए कोई ट्यूशन करके काम चलाते थे। कुछ समय बाद एक कठिनाई और आ गई। इनके पिता ने जब इनको अपनी मर्जी के विरुद्ध कॉलेज में पढ़ते देखा तो इनकी स्त्री को भी इनके पास भेज दिया, ताकि जब खर्च की कमी पड़े तो यह कोई नौकरी कर लें। पर ये अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे और सब प्रकार के अभावों और कष्टों को सहन करके भी पढ़ाई को जारी रखा। इनका विवाह उस जमाने की प्रथा के अनुसार बहुत छोटी आयु में ही हो गया था।

त्याग और तपस्या का विद्यार्थी जीवन—

इस प्रकार तीर्थराम को अपने विद्यार्थी-जीवन में ही त्याग और तपस्या का पूरा परिचय देना पड़ा। उस जमाने की जो दो-चार घटनाएँ सुनने में आती हैं, उनसे मालूम पड़ता है कि उस समय भी आप एक 'योगी' की भाँति एक मात्र विद्याध्ययन को लक्ष्य बनाकर संसार की सब बातों को भूले हुए थे। उस समय की अत्यंत कठिन गरीबी का वर्णन करते हुए उनके जीवन चरित्र के बारे में एक लेखक ने कहा है—

"यह सच है कि जिस भयानक गरीबी में तीर्थराम जी ने कॉलेज में शिक्षा प्राप्त की, वह शायद ही और किसी विद्यार्थी ने

अनुभव की हो। अनेक दिन ऐसे भी आये कि लाहौर जैसे शहर में केवल तीन पैसे रोज पर गुजारा करते रहे। सुबह के वक्त एक दुकान पर दो पैसे की रोटी खरीद लेते और दाल के साथ खा लेते। शाम को उसी दुकान से एक पैसे की रोटी खाते, दाल मुफ्त में मिल जाती। कुछ दिन तो इस तरह बिताये, पर बाद में दुकानदार ने कह दिया कि एक पैसे की रोटी के साथ दाल मुफ्त नहीं मिल सकती। इस पर लाचार होकर शाम का खाना बंद कर देना पड़ा, सुबह एक बार खाकर ही संतोष कर लेते। उनके पास पहिनने को न कोट था, न पतलून और न नेकटाई। आपके पास घर के खद्दर की बनी एक कमीज थी और एक पायजामा। पैरों में एक मामूली देशी जूती पहिनकर काम चलाते थे।"

एक बार दुकान से कुछ सामान खरीदते समय आपकी एक जूती नाली में गिरकर खो गई। दूसरे दिन आप एक जूती अपनी और दूसरी पुरानी जनानी जूती पहिनकर कॉलेज गये। जब पैसे आ गये तो नौ आने की नई जूती खरीदी। यह दशा देखकर उनके कुछ मित्र भी समय-समय पर थोड़ी बहुत सहायता कर देते। १८६३ के एक पत्र में आपने लिखा था—

"झंडामल ने मुझे दो कुर्ते और एक पाजामा दिया है और ज्वालाप्रसाद का कोई कपड़ा पहिन लेने की भी मुझे छूट है। इसलिए चिंता की कोई बात नहीं।"

स्वामी राम के एक निकटतम सहयोगी और उच्चकोटि के विद्वान् प्रोफेसर पूर्णसिंह ने स्वामी जी की छात्रावस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—

"रात को पढ़ने के हेतु दीपक के तेल के लिए वे कभी-कभी वस्त्र नहीं बनवाते थे व किसी-किसी दिन भोजन भी नहीं करते थे। स्वामी राम की छात्रावस्था में प्रायः ऐसा हुआ है कि वे शाम से सबेरे तक पढ़ने में लीन रहे। विद्या का प्रेम इतने जोर से उनके हृदय को मसोसता था कि विद्यार्थी-जीवन में साधारण सुख और शारीरिक आवश्यकताएँ बिल्कुल भूल गई थीं। भूख-प्यास और सर्दी-गर्मी का उनकी इस ज्ञान-पिपासा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता

था। गुजरान वाला और लाहौर के जिन लोगों ने उन्हें उस समय देखा था, उनका कहना है कि शुद्धचित्त गोस्वामी (तीर्थराम) दिन-रात असहाय और अकेला परिश्रम करता रहता था अर्थात् बिना युद्ध के साधनों के जीवन से संग्राम करता था।"

पाठक इसकी तुलना आजकल के विद्यार्थियों से करें, जिनके लिए पाठ्यक्रम की पुस्तकों का अध्ययन तो बड़ा कठिन जान पड़ता है, पर सिनेमा और सिगरेट के बिना जिसका काम नहीं चलता। यही कारण है कि स्कूल और कॉलेज के जीवन में ही उनके अंदर इतने दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं और सच्ची योग्यता और परिश्रम का अभाव हो जाता है, कि उनका आगामी जीवन अधिकांश में असफल ही होता है। या तो वे आलसी और निकम्मे बनकर अभावयुक्त अवस्था में समय काटते हैं अथवा गुंडा और बदमाश बनकर अपने और समाज के लिए दुष्टता की वृद्धि करने वाले सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत तीर्थराम ने एक तपस्वी की तरह सब प्रकार के कष्टों का ध्यान छोड़कर पढ़ाई में इतना अधिक मनोयोग लगाया कि सदा यूनीवर्सिटी में प्रथम आते रहे और जब एम० ए० की परीक्षा देने से कुछ समय पूर्व सरकारी कॉलेज के अंग्रेज प्रिंसिपिल ने इनकी सच्ची लगन से प्रसन्न होकर अपने पास बुलाया और पूछा कि—"क्या मैं आपका नाम आई० सी० एस० (भारतीय सिविल सर्विस) की परीक्षा के लिए भेज दूँ ?" तो इनकी आँखों में आँसू भर आये और कहने लगे—"मैंने इतनी मेहनत से ज्ञान का जो खजाना पाया है, उसे मजिस्ट्रेट और जज बनकर अपराधियों के मुद्दमे सुनने में क्यों खो दूँ ! इस ज्ञान की दौलत को बाँटकर अपने आपको और दूसरों को सुखी करना ही मेरा कर्तव्य है।"

एक दिन फिर कॉलेज के प्रिंसिपल ने पूछा कि—'एम० ए० पास करने के बाद क्या करोगे ?' तो आपने उत्तर दिया—

"यदि कोई इच्छा है तो यही कि अपना सारा जीवन और हर एक साँस प्रभु की सेवा में लगा दूँ और मनुष्य मात्र की सेवा करूँ, क्योंकि लोक-सेवा ही ईश्वर-सेवा है।"

स्वामी राम के ये मनोभाव बतलाते हैं कि एक सच्ची आत्मा में सेवा धर्मपालन करने की कैसी उत्कट अभिलाषा होती है ?

जिस विद्यार्थी जीवन में सब कोई ऊँची नौकरी करने की बात ही सोचा करते हैं और भले-बुरे सब उपायों से उसी के लिए प्रयत्न करते रहते हैं, उस समय तीर्थराम ने स्वयमेव मिलती हुई कलक्टर और जज की नौकरियों की तरफ निगाह भी नहीं डाली। उस समय में भारतवासियों की पहुँच अधिक से अधिक इन्हीं पदों तक होती थी और अरविंद, देशबंधु दास, नेताजी सुभाषचंद्र बोस आदि सर्वोच्च नेताओं के अभिभावकों ने उनको आई० सी० एस० बनाकर इन पदों की ही अभिलाषा की थी। यह बात दूसरी थी कि उस समय के गर्म राजनीतिक वातावरण से प्रभावित होकर वे अन्य मार्ग पर चले गये। पर तीर्थराम आरंभ से ही मानते थे कि यह ज्ञान वास्तव में एक ईश्वरीय अनुदान है, जिसका उपयोग हमको मुख्यतः उसकी सृष्टि को सुखी और श्रेष्ठ बनाने के लिए ही करना चाहिए। यही मनुष्य का सबसे प्रथम और सर्वोत्तम कर्तव्य है। यदि हम इस ज्ञान को पाकर उसका उपयोग केवल स्वार्थ-साधन के लिए ही करते हैं अथवा उससे भी नीचे उतरकर उसके द्वारा दूसरों को अनहित करते हैं, तो हम मनुष्य कहलाने के भी हकदार नहीं हैं और संभवतः आगामी जन्म में हमको उन्हीं योनियों में जन्म लेना पड़ेगा, जिनमें ज्ञान का अभाव है।

परोपकार की सक्रिय साधना—

जब बी० ए० की परीक्षा में प्रांत भर में प्रथमोत्तीर्ण होने पर उनको एम० ए० में ६० रु० मासिक छात्रवृत्ति मिलने लग गई तब उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ जाती रहीं। पर इसका आशय यह नहीं कि वे आराम की जिंदगी गुजारने लगे या सांसारिक भोगों में प्रवृत्त हो गये। यद्यपि उनकी पत्नी साथ में थी तो भी वे धर्मशास्त्रों के नियमानुसार गृहस्थ धर्म का पालन करने के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य का सदैव ध्यान रखते थे। एम० ए० में गेहूँ की रोटी खाना भी छोड़ दिया, कई-कई दिन तो केवल दूध पर ही रह जाते या उबला हुआ चावल खाकर काम चला लेते। आपका कहना था—

"जो लोग अपने पेट को हलुआ-पूरी या अन्य बढ़िया समझे जाने वाले भोजन से भरे रहते हैं, वे प्रतिभाशाली होने पर भी मूर्ख

हो जाते हैं। भोजन जितना हलका होता है दिमाग भी उतना ही काम करता है। इसके अतिरिक्त चित्त की एकाग्रता के लिए दिल की पवित्रता भी बहुत आवश्यक है। जिस विद्यार्थी का दिल पवित्र नहीं है, जो गंदे विचारों को मन में स्थान देता है, वह किसी तरह अपने दिल-दिमाग को ऐसी सही हालत में नहीं रख सकता, जिससे विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में ऊँचा उठ सके।"

इसलिए एम० ए० में जब आपको ६० रु० महीना (आजकल के भावों के अनुसार लगभग एक हजार रु०) वजीफा मिलने लगा और सन् १८९६ में मिशन कॉलेज, लाहौर में दो सौ रुपया वेतन पाने लगे, तब भी आपने अपना रहन-सहन बिल्कुल सादा ही रखा। जो रुपया बचता उसे अपने पिता, अपने सहायक धन्ना भगत को भेजते और गरीब विद्यार्थियों की मदद करते रहते। स्वयं वही खद्दर की पोशाक पहिनते और उन कपड़ों को भी अपनी पत्नी से ही सिलवा लेते।

इस प्रकार तीर्थराम जी ने अपना उदाहरण दिखाकर लोगों को उपदेश दिया कि जीवन की वास्तविक सफलता बड़े पद पा लेने अथवा भारी चमक-दमक बढ़ा लेने में नहीं है। सच्ची प्रसन्नता और शांति वही पा सकता है, जो त्याग और परोपकार का जीवन बितायेगा। चाहे अनजान लोग उसे सीधा-सादा या बुद्धू कहें, पर वह निरंतर ऊँचा उठता जायेगा और समझदार लोग उसका आदर-सम्मान ही करेंगे। स्वामी रामतीर्थ सदा मोटा खाकर और मामूली कपड़े पहनकर रहे। अमेरिका में भी अपने लिए जंगल से लकड़ियाँ काटकर, सर पर रखकर ले आते थे तो भी वहाँ उनका इतना सम्मान किया जाता था कि उस देश का प्रेसीडेंट इनसे मिलने को दो बार आया। इसलिए जो लोग सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, उनको सदा सचाई का ख्याल रखना चाहिए। इस बात की फिक्र करने की जरूरत नहीं कि अगर हम दूसरों की तरह शान-शौकत से नहीं रहेंगे तो लोग हमारी इज्जत न करेंगे अथवा हमको मामूली आदमी समझेंगे। भारत के तो सभी महान् पुरुष, ऋषि, मुनि, संत बहुत अधिक सादगी तथा निर्धनता की

अवस्था में रहते आये हैं और आज भी सबसे अधिक आदर और सम्मान के साथ उन्हीं का नाम लिया जाता है।

सांसारिक विभूतियों के त्याग की प्रवृत्ति—

स्वामी रामतीर्थ में सांसारिक धन-संपदा को असार समझने और आत्मिक क्षेत्र में प्रगति करने की भावना आरंभ से ही पाई जाती थी। यद्यपि उनको विद्यार्थी अवस्था में बहुत अभाव और तकलीफ का जीवन बिताना पड़ा था, पर केवल इसी आधार पर वे इतने बड़े आत्मज्ञानी और सर्वस्व त्यागी महापुरुष नहीं बन गये। हम देश के और भी अनेक विद्वानों और नेताओं को जानते हैं, जिनको बाल्यावस्था में ऐसी ही या इससे भी अधिक गरीबी का अनुभव करना पड़ा था, पर बाद में पढ़-लिखकर उन्होंने अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी बना ली। इसलिए तीर्थराम जी, जो उच्चकोटि के प्रतिभाशाली थे और गणित में जिनकी टक्कर के जानकार विद्वान् समस्त देश के इने-गिने थे। अगर शिक्षा के क्षेत्र में ही संलग्न रहते तो एक समय निश्चय ही अन्य प्रसिद्ध पुरुषों की तरह यश और नाम के साथ धन के अधिकारी भी हो जाते। पर उनका झुकाव सदा अध्यात्म की तरफ ही अधिक रहा, दूसरों की भलाई और उपकार को सदा तैयार रहे और हमेशा यही अभिलाषा रखी कि मुझसे संसार की जो अधिक से अधिक सेवा हो सकती है, उसमें कमी न रहे। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे अवश्य ही उन महान् आत्माओं में से थे, जो अनेक जन्मों से आध्यात्मिक मार्ग पर चलते हुए, आत्म-विकास के उच्च स्तर पर पहुँच जाते हैं और जिनको ईश्वर विशेष रूप से सांसारिक लोगों के मार्ग दर्शनार्थ भेजा करते हैं।

'गीता' में ऐसे आत्मज्ञानी पुरुषों के लिए यही कहा गया है—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।।
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वस्तीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।

(६-४०, ४१, ४२, ४४)

अर्थात्—"ऐसे पुरुष का लोक और परलोक में कभी नाश नहीं होता, क्योंकि शुभ कर्मों का फल कभी दुर्गति के रूप में नहीं मिला करता। ऐसा योगमार्ग का पथिक बहुत समय तक स्वर्ग में रहकर शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में अथवा ज्ञानवान् योगियों के कुल में जन्म लेता है। वह पूर्व जन्म के अभ्यास से ही भगवान् की ओर आकर्षित हो जाता है और सकाम कर्मकांड के मार्ग का उल्लंघन करके समत्व बुद्धि रूपी योग को प्राप्त कर लेता है।"

स्वामी रामतीर्थ और परमहंसदेव रामकृष्ण का जीवन यही सिद्ध करता है कि कुछ आत्माएँ निश्चय ही पूर्व जन्म के संस्कारों से अनायास ही अध्यात्म-मार्ग पर चलने लग जाती हैं और शीघ्र ही इतनी अधिक प्रगति कर लेती हैं, जितनी अन्य लोग सब कुछ साधन होने और पूर्ण प्रयत्न करने पर भी नहीं कर पाते।

स्वामी जी इस अध्यात्म भावना के प्रभाव से सभी प्राणियों में भगवान् के दर्शन करते थे और स्वयं को भी 'राम' के नाम से ही पुकारा करते थे। वे जब तक संन्यासी नहीं हुए थे तब तक भी शरीर की तरफ से बिल्कुल बेफिक्र रहते थे और इसे आत्मा का वाहन मात्र समझते थे। जिन दिनों वे प्राध्यापक थे, एक बार उन्हें गुर्दे का दर्द पैदा हो गया और इतना अधिक बढ़ गया कि उसके मारे तड़फने लगे। पर पंजाब के प्रसिद्ध विद्वान् श्री इकबाल (जो बाद में उर्दू के सबसे बड़े कवि सर इकबाल बन गये) जब उनसे मिलने आये, तो उन्होंने स्वामी जी को हँसते हुए ही पाया। उन्होंने इकबाल से कहा—"क्या हुआ अगर 'राम' का यह शरीर रोगी है। राम तो इस शरीर में बंद नहीं है। वह सब जगह है। इस देह में तो बीमारी आई है, पर मेरी आत्मा हँसी-खुशी का हालत में है।"

इसी मनोवृत्ति का प्रभाव था कि विद्यार्थी अवस्था में सब प्रकार से साधनहीन होते हुए भी वे कभी विचलित नहीं हुए। उस दशा में भी वे सदैव संतुष्ट और प्रसन्न रहते थे और अपना ध्यान एकमात्र विद्याध्ययन और अपने ज्ञान को बढ़ाने में लगाते रहते थे। उस निर्धन अवस्था में भी उनका लक्ष्य बड़े होकर कमाई करने और सुखपूर्वक रहने की तरफ न था, वरन् जैसा उन्होंने अपने कॉलेज के प्रिंसिपल से कहा—उनकी हार्दिक अभिलाषा यही थी कि वे अन्य मानव-भाईयों की कुछ सारयुक्त सेवा कर सकें। कॉलेज में अध्यापक की नौकरी करते हुए भी वे अकसर कहा करते थे—

"मैं किसी चीज को अपना नहीं समझता, इस संसार का धन जमा करने में मुझे कोई खुशी नहीं। अपनी धर्मपत्नी के लिए जेवर बनवाना भी मेरे लिए सुख का कारण नहीं। मेजों, कुर्सियों आदि से मकान सजाने की भी मुझे जरूरत नहीं। मेरे लिए मकान के बजाय किसी पेड़ की छाया ही काफी है। कपड़ा न मिले तो वदन पर राख मलकर और बिस्तर न हो तो जमीन रूपी पलंग पर सोकर भी मैं बिलकुल खुश हूँ।"

"मैं तो गरीबदास हूँ। मेरा कर्तव्य यह है कि काम किए जाऊँ और अपने दिल में प्रभु को एक छोटा-सा मंदिर बना लूँ। ईश्वर के लिए काम करने में, सर्वसाधारण की सेवा करने में जो शांति प्राप्त होती है, वही मेरे लिए मुआवजा (आमदनी) है। मुझे कॉलेज के वेतन की परवाह नहीं। इन चीजों के आने-जाने की मुझे चिंता नहीं होती।"

"हमारा जीवन तभी धन्य होता है, जब अपना कर्तव्यपालन करते हुए हमारा दिल भगवान् में डूबा रहे। जब हम उसकी याद को कभी न भुलायेंगे, तभी हमारा जीवन सार्थक माना जा सकता है।"

वास्तव में संसार में 'प्रभुमय जीवन' जीने की बड़ी आवश्यकता है। सफलता और संतोष का सबसे बड़ा आधार यही है कि हम सांसारिक कामों को भी इसी भावना से करें। इसका परिणाम यह होता है कि हम आरंभ से ही सफलता या असफलता, अन्य लोगों के विरोध या सहयोग, लाभ या हानि के विचारों में अपना समय न गँवाकर पूर्ण मनोयोग से कार्य में दत्तचित्त रहते हैं।

इस प्रकार निस्पृह होकर काम करने पर उसमें प्रायः अधिक सफलता मिलती है और उससे अपना और दूसरों का कल्याण ही होता है। इसके बजाय जो लोग किसी काम को करते हुए सदा उसके असफल होने का भय करते रहते और किसी प्रकार की हानि की संभावना देखते ही निराश और हताश होने लगते हैं, वे लोग कभी कोई बड़ा काम नहीं कर सकते। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में संसार में जीवनयापन करने और कर्म में लगे रहने की यह विधि बताई है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।
योगस्थः कुरु कर्माणि संगंत्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

(२.४७-४८)

अर्थात्—"मनुष्य का अधिकार कर्म करने का ही है, कर्म का फल या परिणाम उसके वश में नहीं है। इसलिए तुमको चाहिए कि सदैव पूरी तरह मन लगाकर काम तो करते रहो, पर उसकी सफलता के संबंध में चिंता मत करो। इस प्रकार जो मनुष्य लाभ की आसक्ति को त्यागकर, सफलता और असफलता को समान समझकर ईश्वरीय नियम का पालन करने की दृष्टि से कार्य में लगे रहना अपना धर्म मानकर व्यवहार करता है, वह कभी दुःखी नहीं हो सकता। उसी को सच्च 'योगी' समझना चाहिए।"

स्वामी राम इस सिद्धांत को आरंभ में ही समझ गये थे। इसी कारण विद्यार्थी जीवन की घोर गरीबी और अध्यापक जीवन की अच्छी आमदनी, जिससे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया जा सकता था, इन दोनों हालतों में वे एक समान संतुष्ट और प्रसन्न बने रहे। उनका विश्वास था कि यह जो कुछ हो रहा है, वह ईश्वरीय विधान के अनुसार ही है और इससे अंत में हमारा भला ही होगा। इसी विश्वास के आधार पर वे तमाम कठिनाइयों को सहन करके महान् सफलता प्राप्त कर सके। अन्यथा उसी हालत में कोई अन्य ऐसा

व्यक्ति होता तो अवश्य ही घबड़ाकर या तो निराश होकर बैठ जाता अथवा बुरे-भले उपायों से काम लेकर अपने आचरण को कलंकित कर लेता। पर स्वामी राम, जो आरंभ से ही भगवान् की न्यायपरता और कृपा में विश्वास रखने वाले थे, न कभी घबराये न मार्गच्युत हुए और इसी सिद्धांत पर चलते हुए उस उच्च पद पर पहुँच गये कि आज तक उनका उज्ज्वल चरित्र और नाम चंद्रमा की तरह चमक रहा है और लाखों व्यक्ति उनसे प्रेरणा प्राप्त करके अपना जीवन सुखी और सफल बना रहे हैं।

भक्ति और वेदांत का अध्ययन—

स्वामी राम ईश्वर-भक्त तो आरंभ से ही थे और उसी के बल पर सब विघ्न-बधाओं को पार करके, एक ऊँचा लक्ष्य प्राप्त कर सके थे। कॉलेज में प्रोफेसर हो जाने के बाद वे सार्वजनिक जीवन में भी भाग लेने लगे। सन् १८९६ में कांग्रेस का अधिवेशन लाहौर में हुआ, ये उसमें शामिल हुए और बड़े-बड़े नेताओं के भाषण सुने, पर उनको कोई आनंद न मिला। उन्होंने देखा कि कांग्रेस जैसी राजनीतिक सभाओं में अधिवेशन के अवसर पर तो लोग बड़ा उत्साह दिखलाते हैं, सुधार और प्रगति की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं, जोरदार भाषण देते हैं, पर वहाँ से लौटकर फिर अपने धंधे में लगकर इन सब बातों को भूल जाते हैं। इस प्रकार तीन दिन के तमाशे से देश का कोई लाभ हो सकता है, इसे मानने को वे तैयार नहीं हुए। वे भी देश की पराधीनता को एक बड़ा अभिशाप मानते थे और देश की हालत सुधारने के लिए जो कुछ संभव था यत्न करते रहे, पर कांग्रेस की नीति उनको प्रभावित न कर सकी।

इसके कुछ ही दिन बाद स्वामी विवेकानंद का आगमन हुआ। वे संसार-त्यागी, संन्यासी और हिंदू धर्म के पूर्ण ज्ञाता थे और उन्होंने अपनी समस्त शक्ति वर्तमान हिंदू जाति को ऊँचा उठाने और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने में लगा दी थी। स्वामी राम ने लाहौर में उनके भाषणों की सब व्यवस्था की और जब तक वे ठहरे, उनके साथ रहकर सत्संग का आनंद लेते रहे। स्वामी विवेकानंद के विचारों, कार्यों का उनके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। चलते समय

उन्होंने एक सोने की घड़ी स्वामी जी को भेंट दी। विवकानंद जी ने कुछ देर उसे पास रखकर फिर रामतीर्थ की जेब में ही रख दिया और कहा कि—"मैं इसको अपनी इस जेब में रखूँगा।" जिस प्रकार स्वामी राम समझते थे कि वे एक ही शरीर में बंद नहीं है, वरन् सभी शरीर उनके हैं, उसी प्रकार स्वामी विवेकानंद सभी 'जेबों' को अपना ही समझते थे। इसमें संदेह नहीं कि इन दो 'स्वामियों, का मिलन बड़ा महत्त्वपूर्ण था और इससे स्वामी राम को सर्वस्व त्यागी होकर हिंदू-धर्म की सेवा करने की बड़ी प्रेरणा मिली।

पर अभी तक स्वामी राम का झुकाव भक्ति-मार्ग की तरफ अधिक था और वे सदा "कृष्ण-कृष्ण" की रट लगाया करते थे। सन् १८६७ में गुजरात, काठियाबाड़ की तरफ से जगत्गुरु शंकराचार्य का आगमन हुआ। उस समय स्वामी राम लाहौर की सनातन सभा के मंत्री नियुक्त किए गये थे और शंकराचार्य जी की सेवा का भार उन्ही के ऊपर पड़ा। शंकराचार्य जी उनके धर्मभाव को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उनको अपने साथ रखकर वेदांत की शिक्षा देने लगे। इस भ्रमणकाल में उन्होंने ऋषिकेश आदि कई स्थानों में रहकर एकांत में जप और ध्यान भी किया और उपनिषदों का अध्ययन करते रहे। इससे उनके त्याग-भाव की और भी वृद्धि हुई और उन्होंने सांसारिक-बंधनों की निस्सारता समझकर अपना जीवन पूर्णरूप से धर्मप्रचार में लगा देने का निश्चय कर लिया।

कुछ महीने बाद वे लाहौर वापस आ गये, पर अब उनका मन नौकरी में नहीं लगता था। उन्होंने मिशन कॉलेज से त्यागपत्र दे दिया और ओरियंटल कॉलेज में जीवन निर्वाह के लिए केवल दो घंटा काम करने लगे। पर उनका वैराग्य-भाव दिन पर दिन बढ़ता गया और सन् १८६६ में उन्होंने नौकरी को बिल्कुल ही छोड़ दिया और पूरा समय अध्यात्म चिंतन तथा धर्म ध्यान में लगाने लगे। जिस समय उनके इस्तीफे पर पंजाब विश्वविद्यालय की कमेटी में विचार हो रहा था, कुछ सदस्यों ने, जो दुनियावी बातों को ही जीवन का आवश्यक अंग मानते थे कहा कि—"तीर्थराम पागल हो गया है।" इस पर इकबाल के मुँह से निकल गया कि—"अगर तीर्थराम

पागल है तो फिर दुनिया में अकल कहाँ है ?" सच है, ज्ञान की दूरवर्ती सीमा अल्पज्ञान वालों को तो पागलपन ही जान पड़ेगी।

संन्यास-आश्रम में प्रवेश—

अब स्वामी राम ने सांसारिक जीवन को पूरी तरह से त्यागकर संन्यासी हो जाने का निश्चय कर लिया। इसलिए उन्होंने दिवाली का शुभ दिन चुना, जो उनका जन्म दिन भी था और भगवान् की माया से वही उनका "निर्वाण दिवस" भी हुआ। (स्वामी जी का देहांत सन् १९०६ में दिवाली के दिन हुआ, जिस दिन उनकी आयु का ३३वाँ वर्ष पूरा हुआ था।) उनका यह त्याग कितना पूर्ण था, इसके संबंध में किसी कवि ने एक भावपूर्ण कविता लिखी थी, जिसके एक चरण में कहा गया था—

चिर सहचरी रियाजी छोड़ी, रम्य तटी रावी छोड़ी।
शिखा-सूत्र के साथ हाय उन बोली पंजाबी छोड़ी।।

अन्य सभी व्यक्ति संन्यास लेते समय घर बार और शिखा-सूत्र का त्याग किया करते हैं, पर स्वामी राम ने बौद्धिक विषयों का भी त्याग कर दिया। 'रियाजी' (गणित) उनका बड़ा प्रिय विषय था। उन्होंने इसी में एम० ए० किया था। कॉलेज में वे यही विषय पढ़ाते थे और जो विद्यार्थी उनको होनहार जान पड़ते थे उनको गणित की शिक्षा निजी तौर पर देने को भी प्रस्तुत रहते थे। पंजाबी भी उनकी मातृभाषा थी, पर संन्यास लेने के बाद शायद ही उनको उसमें बातचीत करने का अवसर मिला हो। तब वे भारतवर्ष में तो हिंदी में और विदेशों में अंग्रेजी में ही वार्तालाप करते और भाषण देने लगे थे। छब्बीस वर्ष की चढ़ती हुई युवावस्था में, जबकि उन्नति का विस्तृत मैदान सामने हो, इस प्रकार सर्वस्व त्याग के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

उन्होंने अपने पास किसी तरह का सामान न रखा और किसी कठिननाई का ख्याल किए बिना उत्तराखंड के विभिन्न स्थानों में भ्रमण करने लगे। वहाँ की जलवायु का जब विपरीत प्रभाव पड़ा तो वे बहुत बीमार हो गये। उसी समय श्री नारायण स्वामी से उनका साक्षात्कार हुआ, जिन्होंने सगे भाई अथवा पुत्र से भी बढ़कर आपकी

सेवा की और उसके फलस्वरूप आप फिर से स्वस्थ हो गये। उस समय से नारायण स्वामी आपके प्रमुख अनुयायी और शिष्य बन गये और सदैव साथ रहकर सेवा करते रहे। स्वामी राम का देहावसान हो जाने पर उन्होंने उनके उपदेशों का प्रचार भी अपना जीवन-कर्तव्य बना लिया। उन्हीं के प्रयत्न से स्वामी राम के समस्त भाषण और लेख आदि देश की विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हो सके हैं और लाखों व्यक्ति उनके द्वारा आत्म-ज्ञान का लाभ प्राप्त कर रहे हैं।

मथुरा के धर्म सम्मेलन में—

सन् १६०१ के दिसंबर में मथुरा में एक बहुत बड़ा धर्म-सम्मेलन हुआ, जिसमें दूर-दूर के विभिन्न धर्मों के विद्वानों ने भाग लिया। स्वामी रामतीर्थ को सर्वसम्मिति से उसका सभापति चुना गया। स्वामीजी सब धर्मों के ज्ञाता थे और सबको सम्मान की दृष्टि से देखते थे। तीसरे दिन के अधिवेशन में स्काट नामक पादरी ने हिंदू धर्म पर आक्षेप किया, जिसका समाधान स्वामी जी ने बड़े ही नम्र और प्रेमपूर्ण शब्दों द्वारा कर दिया। उससे पादरी जी बड़े प्रभावित और लज्जित हुए, उन्होंने अपनी गलती स्वीकार करके क्षमा-प्रार्थना की। हिंदू-धर्म का मुख्य सिद्धांत ही **"वसुधैव कुटुंबकम्"** है। वह धर्म के नाम पर किसी के साथ कब शत्रुता अथवा द्वेष-भाव कर सकता है ? स्वामी जी के व्यवहार से समस्त धर्मों के विद्वान् बहुत प्रसन्न रहे।

तीसरे दिन के अधिवेशन में इतने विद्वानों के भाषण हुए कि सभा के लिए नियत समय उन्हीं में समाप्त हो गया और स्वयं स्वामी जी को कुछ कहने का अवसर ही न मिला, पर अधिकांश जनता फिर भी उनका भाषण सुनने को वहीं बैठी रही। यह देखकर स्वामी जी ने कहा कि—"सभा का समय तो समाप्त हो चुका है और अब यहाँ कुछ कहना नियम विरुद्ध है। वैसे भी मैं इस चारों तरफ से बंद स्थान में कुछ कहना पसंद नहीं करता। इसलिए अगर आपको मेरा भाषण सुनना है तो यहाँ से उठकर यमुना के किनारे भगवान् के बनाये शामियाने (आकाश) के नीचे चलिए, वहीं पर 'राम' अपने ख्यालात को जाहिर करेगा।" यह कहकर आपने सभा भंग

कर दी और उठकर यमुना जी की तरफ चल दिये, श्रोतागण भी सभा-मंडप को त्यागकर उनके पीछे चल दिये और सब लोग जाकर यमुना जी की रेती में बैठ गये। यद्यपि पौष का महीना था, रात हो चली थी और बालू ठंडी लग रही थी, तो भी सब लोग मंत्रमुग्ध होकर आठ बजे तक स्वामी जी का वचनामृत पान करते रहे।

मथुरा में कुछ महीने एकांतवास और साधना करके सन् १९०२ के अप्रेल मास में स्वामी जी टेहरी पहुँचे। श्री नारायण स्वामी भी उनके साथ थे। इस समय तक स्वामी जी का नाम समस्त देश में फैल चुका था, इसलिए शीघ्र ही टेहरी नरेश ने आपसे भेंट की और आपकी इच्छानुसार एक कुटी गंगा के किनारे बनवा दी।

विदेशों में धर्म-प्रचार—

उन्हीं दिनों समाचार पत्रों में एक समाचार छपा कि जापान की राजधानी टोकियो में शीघ्र ही एक 'धर्म-सम्मेलन' होने वाला है, जिसमें संसार के सब धर्मों के प्रतिनिधि इकट्ठे होकर धर्म संबंधी समस्याओं पर विचार-विमर्श करेंगे। इससे पहले सन् १८९३ में एक ऐसा धर्म-सम्मेलन अमेरिका में हो चुका था, जिसमें स्वामी विवेकानंद ने हिंदू-धर्म का डंका बजाया था। इस समय भी बहुसंख्यक धर्मप्रेमियों की अभिलाषा थी कि यदि फिर वैसा ही मौका आये तो पुनः उसमें हिंदू-धर्म की ध्वजा फहराई जाय। इसलिए टोकियो में धर्म-सम्मेलन का समाचार सुनकर टेहरी के महाराज भी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने स्वामी राम से आग्रह किया कि आप जापान जाकर धर्म-प्रचार करें। स्वामी जी हिंदू-धर्म की उच्च शिक्षाओं द्वारा विश्व-कल्याण की भावना सदैव से रखते आये थे अतः इसके लिए तैयार होकर शीघ्र ही जहाज द्वारा रवाना हो गये।

रास्ते में भी जिन बंदरगाहों पर जहाज रुका, वहाँ के हिंदू व्यापारियों ने स्वामी जी का हार्दिक स्वागत किया। जब आप याकोहामा होते हुये टोकियो पहुँचे तो सबसे पहले 'भारतीय-जापानी' क्लब, में सरदार पूर्णसिंह से भेंट हुई, जो एबटाबाद (सीमाप्रांत) के रहने वाले थे और उन दिनों जापान में उच्च शिक्षा प्राप्त करने गये थे। स्वामी राम के उपदेशों और जीवन का आप पर इतना प्रभाव

पड़ा कि सिक्ख होते हुये भी आप उनके शिष्य बन गये और बाल मुँड़ाकर संन्यास ग्रहण कर लिया। बाद में ये बहुत दिनों तक देहरादून में प्रोफेसर भी रहे और आजीवन स्वामी राम के उपदेशों के प्रचार में लगे रहे। ये बहुत बड़े कवि और लेखक थे और स्वामी राम के भाषणों को अंग्रेजी में प्रकाशित कराने में मुख्य रूप से सहायक भी ये ही रहे।

जापान में स्वामी जी लगभग दो सप्ताह ठहरे। आपके भाषणों को वहाँ के सभी लोगों ने बहुत पसंद किया। वे कहने लगे कि जितनी शांति हमको स्वामी जी के उपदेशों से प्राप्त हुई उतनी मैक्समूलर आदि बड़े विद्वानों के भाषणों से भी नहीं मिली थी।

एक जापानी ने आपसे प्रश्न किया कि—"आपने घर बार और स्त्री-बच्चों को क्यों छोड़ा ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया कि—"अपने छोटे से परिवार को एक बहुत बड़ा, विशाल परिवार बनाने के लिए।" वास्तव में स्वामी जी संसार के सभी मनुष्यों को वे चाहे किसी भी जाति, देश और रंग के क्यों न हों, आत्मीय की तरह ही समझते थे, और तो क्या वे पशु-पक्षी, सिंह, सर्प आदि जैसे जीवों को भी आत्मवत् मानते थे, इसलिए कभी किसी मनुष्य या प्राणी ने उनको हानि पहुँचाने की चेष्टा नहीं की। स्वामी राम जापानी लोगों से भी बहुत शीघ्र हिल-मिल गये। वे उनकी परिश्रमशीलता तथा प्रसन्न रहने के स्वभाव से बहुत खुश थे और चलते समय उन्होंने कहा—

"राम जापानी लोगों को क्या सिखाये ? यह तो सबके सब वेदांती हैं। ये राम की मूर्ति हैं। कैसे हँसमुख हैं, कैसे चुपचाप मेहनत करने वाले हैं। राम इसी को जीवन का सार समझता है।"

जिस सर्वधर्म सम्मलेन की बात सुनकर स्वामी राम जापान पहुँचे थे वह गलत निकली। इस पर आप खूब हँसे और कहने लगे कि—"मैं तो यहाँ पूर्णसिंह को मार्ग-दर्शन कराने आया हूँ।" इसके बाद उनकी इच्छा अमेरिका जाने की हुई और बिना किसी प्रकार की व्यवस्था के और खर्च का इंतजाम किए बिना आप अकेले ही रवाना हो गये।

अमेरिका में दो वर्ष तक उपदेश—

अमेरिका आज से सत्तर वर्ष पहले भी उद्योग-धंधों और कल-कारखानों में काफी उन्नति कर चुका था और धन-संपत्ति की निगाह से उसका दर्जा संसार में बहुत ऊँचा था। पर स्वामी राम को वहाँ वालों में भौतिकवाद की अधिकता और आत्मशक्ति की कमी जान पड़ी। इसलिए उन्होंने अपने एक भाषण में कह दिया—

"तुम्हारे मकान बड़े शानदार और ऊँचे हैं, पर उनमें रहने वाले मनुष्य बहुत छोटे हैं।"

फिर भी आप अमेरिकन लोगों की उद्योगी प्रकृति को बहुत पसंद करते थे और कहते थे कि इसी के अभाव से भारतवर्ष के निवासी दुर्दशा में पड़े हुए हैं। भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति महान् थी, पर अब भारतवासी आलस्य और उद्योगहीनता के कारण उसके पात्र नहीं रहे और नीचे गिर गये हैं।

अमेरिका में स्वामी राम के सैकड़ों व्याख्यान हुए और लोगों ने उनको बड़े शौक से सुना। कई व्यक्ति आपके शिष्य भी हो गये। मिसेज वाइटमन नाम की महिला ने आपके अनेक भाषणों के 'नोट्स' लिखे थे। स्वामी जी के आकस्मिक देहांत हो जाने के पश्चात् उन्हीं के आधार पर उनके भाषणों का संग्रह प्रकाशित किया गया। यह कार्य स्वामी नारायण ने किया, जो रात-दिन स्वामी जी के साथ ही रहते थे। उन भाषणों में इतना तेज और ओज भरा हुआ है कि पाठक के हृदय पर तुरंत उनका प्रभाव पड़ता है और उसकी आत्मा ऊँची उठ जाती है।

एक दूसरी वृद्ध महिला श्रीमती वैलमन भी अपने मानसिक कष्टों से छुटकारा पाने के लिए स्वामी जी की शरण में आई थी। पहले तो उसने स्वामी जी को ध्यान और मौन अवस्था में ही बैठे रहने के कारण असभ्य और घमंडी समझा, पर स्वामी जी ने एक बार आँखें खोलकर उसे देखा और माँ कहकर पुकारा। वे फिर 'ओम्' का जप करने लग गये तो वृद्धा का मनोभाव एकदम बदल गया। वह स्वामी राम की ऐसी भक्त हो गई कि उनके जन्म स्थान का दर्शन करने भारतवर्ष आई और उनके गाँव में जाकर सब

घरवालों से मिलीं। देहरादून में श्रीपूर्णसिंह से अपना अनुभव उसने इन शब्दों में प्रकट किया—

"स्वामी जी की दृष्टि से मुझमें एक नया जीवन आया। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि मैं जमीन से उठकर हवा में रोशनी की तरह उड़ रही हूँ। उस समय मैंने अनुभव किया कि मैं जगत् की माँ हूँ। सभी देश मेरे हैं। सभी लोग मेरे बच्चे हैं। मेरे दिल में इतना आनंद आया कि भारत को देखने की इच्छा हो आई। मैंने सोचा कि जाऊँ और देखूँ कि स्वामी जी कहाँ पैदा हुए और कहाँ पले ? इसीलिए मैं यहाँ आई हूँ। मेरा आनंद अब कभी कम नहीं होता। आह ! 'ओम्' का शब्द मेरी हड्डियों में गूँजता है। 'माँ' का शब्द मुझे भगवान् तक ले जाता है। मैं चाहती हूँ कि मैं उनके पैरों को पूजूँ और जो आनंद उन्होंने मुझे दिया है, उसी में सदा पड़ी रहूँ। मेरे अंदर अमृत स्रोत बहने लग गये हैं, जिससे मेरा सब मल दूर होकर मैं पवित्र हो गई हूँ।"

यद्यपि स्वामी जी ने अमेरिका वालों की स्वतंत्रता, विद्या-प्रेम, उद्योगशीलता की बहुत सराहना की, पर यह भी कहा कि केवल इस भौतिक उन्नति से काम नहीं चल सकता। रेल, मोटर, बिजली, तार, टेलीफोन आदि वैज्ञानिक आविष्कार तरक्की के सबूत जरूर हैं, पर यदि इनके साथ आत्मिक उन्नति न होगी, वे सबके साथ सत्य, न्याय और प्रेम का बर्ताव करना न सीखेंगे, तो यह बाहरी उन्नति उनके नाश का कारण भी बन सकती है। इस संबंध में स्वामी जी कहा करते थे—

"संसार की सभ्य कौमें भी भेदभाव की जंजीरों में बँधी हुई हैं। सबको अपनाने के बजाय वे लोग गरीबों से दूर रहते और प्रकृति के सहवास से हटकर बंद कमरों में समय बिताना पसंद करते हैं। उन्नति का असली उद्देश्य नीति व धर्म की राह पर आगे बढ़ना है। संसार का धन बटोर लेना या निकम्मी आवश्यकताओं को बढ़ा लेना-असली उन्नति नहीं है। योरोप और अमेरिका के लोग रुपया जमा करने के लोभ में फँसे हुए हैं। धन का लोभ ईश्वर दर्शन में सबसे बड़ी रुकावट है।"

इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो भारतीय शास्त्रों का 'धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' का समन्वय सबसे अधिक स्वाभाविक और कल्याणकारी सिद्ध होता है। संसार में न धन के बिना काम चल सकता है और न बिना धर्म के। जो इनमें से केवल एक ही तरफ ध्यान देगा वह अवश्य ही विपत्ति में पड़ेगा। जैसा श्री रामकृष्ण परमहंस कहते थे—"भूखे आदमी को धर्म का उपदेश देना व्यर्थ है।" इसी प्रकार जो व्यक्ति या देश, धर्म का ख्याल न करके केवल धनोपार्जन को ही अपना लक्ष्य बना लेता है, उसकी उन्नति भी क्षणस्थायी रहती है। बुद्धिमान् उसी को कहा जा सकता है, जो इन दोनों पहलुओं पर उचित रूप से ध्यान देकर धर्मपूर्वक धन का उपार्जन और व्यय करता है। स्वामी राम ने जहाँ अमेरिका, योरोप के रोगों का कारण भले-बुरे का विचार त्यागकर धन की पूजा करना बतलाया, उसी प्रकार उसके मतानुसार भारतवर्ष का रोग सच्चे धर्म को त्यागकर काल्पनिक और जुबानी धर्म के पीछे पड़ जाना था।

स्वदेश आगमन और देह-त्याग—

अमेरिका से लौटते समय स्वामी राम योरोप के रास्ते मिश्र पहुँचे और वहाँ कुछ दिन ठहरे। इस समय मिश्र में इस्लाम का प्रचार था, पर कोई जमाना था कि वहाँ भारतवर्ष की प्राचीन आध्यात्मिक सभ्यता ही प्रचलित थी। इन दोनों देशों का संबंध वैदिक काल में भी था और आर्यों की किसी शाखा ने ही वहाँ प्रचार किया था। बाद में यहूदी और ईसाई धर्मों के आविर्भाव होने से उसमें अनेक परिवर्तन हो गये और मुसलमानों ने तो तलवार के जोर से उसे पूरी तरह अपने धर्म में दीक्षित कर ही लिया। फिर भी प्राचीन परंपरा के प्रभाव से अभी तक वहाँ कुछ लोग अध्यात्म-चर्चा में रस लेने वाले मौजूद हैं और भारतवर्ष की तरह मंत्र-साधना आदि का भी प्रचार देखने में आता है। स्वामी राम वहाँ कुछ समय तक ठहरे रहे और नगर की बड़ी मस्जिद में भारतीय अध्यात्म पर एक महत्त्वपूर्ण भाषण दिया। आप वहाँ के निवासियों के सामने धड़ल्ले से फारसी में बोले, जिससे श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वहाँ आपका बड़ा आदर-सम्मान किया गया।

भारतवर्ष आने के पश्चात् स्वामी जी जब बंबई में उतरे तो मथुरा के स्वामी शिवगुण आचार्य वहाँ आपका स्वागत करने को उपस्थित थे। उनके साथ आप मथुरा आ गये और शांति आश्रम में ठहर गये। शिवगुण आचार्य का विचार था कि, अब स्वामी राम का नाम इतना फैल चुका है कि यदि वे कोई संस्था कायम करें तो उसे लाखों रुपयों की सहायता सहज में मिल सकती है। इसलिए वे बार-बार उनसे यही कहने लगे कि—"आप राजनीतिक झगड़ों में न पड़कर राजाओं से मिलें। उनसे इतना रुपया आसानी से मिल जायेगा, जिससे वेदांत-प्रचार का कार्यक्रम अच्छी तरह चलाया जा सकेगा।" पर स्वामी जी तो माया के फंदे को पूरी तरह से काटकर आजाद रहने का कार्यक्रम बना चुके थे, वे धन कमाने के इस जंजाल में क्यों फँस सकते थे ? कुछ लोगों ने आपको यह भी सलाह दी कि आप एक नई सभा बनायें, जो आपके विचारों के अनुसार देश-सेवा का काम करे। पर आपने इस सुझाव को भी नापसंद किया और कहा—

"सब सभायें मेरी हैं। अलग सभा बनाने की कोई आवश्यकता नहीं।"

आजकल इससे उलटी ही बात देखने में आती है। काम चाहे कुछ भी न किया हो, कोई महत्त्वपूर्ण काम करने की योग्यता भी न हो, पर अपनी पृथक् संस्था पहले बनाई जायेगी, ताकि स्वयं को बड़ा बनने का अवसर मिल सके और जनता से उसके नाम पर चंदा इकट्ठा करने का मार्ग निकल सके। पर स्वामी राम ने कहा कि—अगर सभाओं की मारफ़त काम करना ही उत्तम हो, तो क्या देश में सभाओं की कमी है ? सच्चे काम करने वाले को न काम की कमी है न साधनों की। योग्य और सच्चे आदमियों के सैकड़ों ग्राहक होते हैं। पर सच्चाई और योग्यता दोनों गुण एक व्यक्ति में बहुत कम देखने में आते हैं और इसीलिए सार्वजनिक संस्थाएँ थोड़े समय में ही अपनी जीवनलीला समाप्त करके केवल रजिस्टरों में नाम लिखा छोड़ जाती हैं।

फिर आप हिमालय पर्वत पर चले आये। वहाँ विभिन्न स्थानों में रहकर ध्यान-योग में संलग्न रहे। आपने संन्यासी होते समय जो

भगवा वस्त्र धारण कर लिए थे, धीरे-धीरे उनसे भी विरक्ति हो गई और एक दिन श्री पूर्णसिंह से कहा—"पूर्णजी ! राम को यह मालूम न था कि यह भगवे कपड़े इस देश में अब आजादी की निशानी नहीं रहे। गुलामों ने भी भगवे कपड़े पहिनना शुरू कर दिया है। यह ऐसी दिखावे की चीज बन गई है कि अब जी नहीं चाहता कि इन्हें पहनूँ। इसलिए जब पहाड़ से मैदान में जाऊँगा तो आजादी की पोशाक न होने की बजह से इन भगवे कपड़ों को एक आम सभा में फाड़ डालूँगा।" कुछ समय बाद आपने सचमुच भगवा कपड़ों को त्याग दिया और दाढ़ी भी रख ली।

कुछ दिन तक वशिष्ठ आश्रम में रहे। उस समय ईश्वर-भक्ति की ऐसी प्रबलता हो गई थी कि आप चाहे जब गाने और नाचने लग जाते थे। आपको चारों तरफ सिवाय ईश्वर के कुछ नजर नहीं आता था। आपने आदेश दे रखा था कि आश्रम में किसी सार्वजनिक नेता की आलोचना न की जाय। जिस प्रकार अनेक लोग दूसरों की निंदा करके अपना बड़प्पन जाहिर करते हैं, वह आपको बहुत नापसंद था।

पर उत्तराखंड के जलवायु में आपका स्वास्थ्य फिर खराब रहने लगा। खासकर वहाँ का भोजन आपको माफिक नहीं आता था। इसलिए एक दिन अपने प्रिय शिष्य नारायण स्वामी से कहा—"बेटा ! राम की तबियत अब संसार से ऊब गई है। अतः शीघ्र ही यह इस शरीर को त्यागने वाले हैं। तुम किसी बात की चिंता मत करना। 'राम' की तरह प्रसन्न रहना और अपने स्वरूप का चिंतन करते रहना।"

इसके कुछ ही दिन बाद सन् १९०६ की दीपावली के दिन जबकि वे ३३ वर्ष के हो चुके थे, गंगाजी में स्नान करने उतरे, पर पैर के नीचे से एक पत्थर निकल गया और वे पानी में बह चले। यद्यपि स्वामी जी बड़े अच्छे तैराक थे और अमेरिका में समुद्र में बारह मील तक तैर चुके थे, पर उस दिन कुछ तो अस्वस्थता और कुछ आत्म-बलिदान की मानसिक स्थिति के कारण जल के तीव्र बहाव में बहते ही चले गये और गंगा में ही उन्होंने जल-समाधि प्राप्त

कर ली। बाद में टेहरी नरेश ने कुछ तैराक भेजकर उनकी मृत देह को निकलवाया। उसके बाद नारायण स्वामी ने वैदिक रीति से उन्हें एक संदूक में रखकर जल में विधिपूर्वक विसर्जित कर दिया।

स्वामी जी को देह की नश्वरता की आत्मा की अमरता की भावना का अनुभव निरंतर होता रहता था और वे मृत्यु का स्वागत करने को सदैव प्रस्तुत रहते थे। जल-समाधि लेने के दिन भी आपने लेख में ये पंक्तियाँ लिखी थीं—

"मुझे मृत्यु का कुछ भय नहीं है। मुझे तो सेवा करने की धुन है। जहाँ जिस रूप में रहूँगा, कर्तव्यपालन करता रहूँगा। इस शरीर का बंधन मुझे अपने में बाँधकर नहीं रख सकता। मौत जब चाहे इसको ले जाय। मेरे पास व्यवहार करने के अनेक शरीर हैं। मैं सदा उनमें रहकर लोगों की सेवा करूँगा, रोतों को हँसाऊँगा और हँसतों को और भी प्रसन्न करूँगा।"

निस्संदेह स्वामी जी ने आत्म-तत्त्व को पूरी तरह समझ लिया था और वे इस शरीर की उपयोगिता तभी तक समझते थे, जब तक इसके द्वारा संसार की सेवा और कर्तव्यपालन होता रहे। जब उन्होंने अनुभव किया कि अस्वस्थता के कारण हम इसके द्वारा दूसरों की सेवा करने के बजाय उनसे अपनी ही सेवा कराते रहेंगे, तो उन्होंने तुरंत इसको बदल डाला। वे वास्तव में ऐसी जीवन्मुक्त स्थिति में पहुँचे हुए महापुरुष थे, जिनके लिए जीवन और मृत्यु में कोई अंतर नहीं होता।

स्वामी जी के ये विचार मृत्यु के अवसर पर ही नहीं थे, वरन् अमेरिका में भी वे लोगों को यही उपदेश दिया करते थे। उनके देहावसान के पश्चात् एक अमेरिकन शिष्य ने उनके शिष्य महात्मा पूर्णसिंह जी को एक पत्र में लिखा था—

राम सदा हम लोगों से कहा करते थे—"हर घड़ी ऐसा अनुभव करो कि जो शक्ति सूर्य और नक्षत्रों में अपने को प्रकट करती है, वही मैं हूँ, वही तुम हो। इस वास्तविक आत्मा को अर्थात् अपने गौरव को सोचो, ऐसे अमर जीवन का चिंतन करो, अपनी इस असली सुंदरता पर मनन करो और तुच्छ शरीर के समस्त विचारों

तथा बंधनों को साफ भूल जाओ, मानों तुम्हारा इन मिथ्या और दिखाऊ बातों में कभी कोई संपर्क न था। न कोई मृत्यु है, न रोग, न शोक। पूर्ण आनंदमय जीवन पर नित्य ध्यान दो। पूर्ण मंगलमय, पूर्ण शांतिमय बनो।"

स्वामी जी का सच्चा वेदांत—

स्वामी राम 'वेदांती' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने भारत और अमेरिका दोनों जगह लोगों को वेदांत मार्ग पर चलने का उपदेश दिया था। पर उनके 'वेदांत' का अर्थ जगत् को मिथ्या कहकर, भीख माँगकर अथवा लोगों को ठगकर अपना पेट भर लेना नहीं था, वरन् वे कहते थे कि—'वेदांत के अनुसार तो अत्यंत काम करना ही विश्राम है। यद्यपि ये दोनों कथन परस्पर विरोधी जान पड़ता है, पर इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि सच्चा कार्य विश्राम मात्र है।" अपने इन वेदांत संबंधी विचारों को समझाने के लिए आपने जापान और अमेरिका में 'सफलता का रहस्य' विषय पर दो महत्त्वपूर्ण भाषण दिये थे, जिनमें व्यावहारिक दृष्टि से 'वेदांत' पर चलने की शिक्षा दी गई है। आपने सफलता के जो सात साधन बतलाये थे, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) कार्य—'चोट लगाते जाओ-चोट लगाते जाओ' सफलता का पहला सिद्धांत है। परिश्रम बिना तुम कभी सफल नहीं हो सकते। 'जीवन-संग्राम में सुस्त आदमी का नष्ट हो जाना अटल है। वेदांत कहता है कि मनुष्य को कार्य करते समय उसमें इस प्रकार निमग्न हो जाना चाहिए कि अपने आपे का भी ध्यान न रहे। सभी महान् कार्य तभी पूरे होते हैं, जब मनुष्य 'अहंभाव' (अपनत्व) से ऊपर उठकर अपने को सर्वतोभावेन उसमें लगा देता है। उस समय मनुष्य को यह भी ख्याल नहीं रहता कि—'मैं काम कर रहा हूँ।' न उसे धन के लाभ का ध्यान रहता है न प्रशंसा का। दीपक जब जलता है तभी उसमें चमक—प्रकाश उत्पन्न होता है। एक सैनिक जब युद्ध क्षेत्र में लड़ने लगता है तो अपने लक्ष्य में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती। उस समय उसका शरीर यंत्रवत् काम करने लगता है। इसी प्रकार कोई

लेखक या कवि उस समय उच्चकोटि की रचना कर सकता है, जब अन्य सब बातों का ध्यान छोड़कर तन्मयता का आश्रय लेता है। इसलिए सफलता का पहला रहस्य यही है कि यदि तुम किसी विषय में निश्चित रूप से सफल होना चाहते हो तो अन्य समस्त बातों का ध्यान छोड़कर अपनी संपूर्ण शक्ति उसी में लगा दो।

(२) त्याग—एक बार किसी तालाब या नदी में वाद-विवाद होने लग गया। तालाब ने कहा—"हे नदी ! तू बड़ी मूर्ख है। तू अपना सब जल समुद्र को दे डालती है, जबकि मैं अपना जल सदा अपने ही पास रखता हूँ। तू अपना वैभव इस तरह मत लुटा। समुद्र तो अकृतज्ञ है, उसे तेरी कोई परवाह नहीं। तू अपनी संचित निधियाँ उसमें भरती जाती है, पर वह उतना ही खारा बना हुआ है।" नदी ने उत्तर दिया—"परिणाम और फल मेरे लिए कुछ महत्त्व नहीं रखते—सफलता और असफलता मेरे लिए तुच्छ हैं। मैं काम करती जाऊँगी, यही मेरा ध्येय है। कर्मशीलता ही मेरा जीवन है।" नतीजा यह हुआ कि कुछ दिनों में कंजूस तालाब का पानी सूख गया और उसमें कीचड़ ही शेष रह गई। पर नदी को अमर स्रोतों द्वारा समुद्र का ही जल मिलता रहा और वह बराबर ताजा और परिपूर्ण बनी रही।

अतएव त्याग ही संसार को जीवित और सक्रिय रखने का मुख्य साधन है। जो लोग द्रव्य को संग्रह करने में लगे रहते हैं, उनको उसकी रक्षा में ही सदैव व्यस्त रहना पड़ता है। उनको संपत्ति के नष्ट होने का भय सदा लगा रहता है। पर लोकहितार्थ त्याग करने वाला सदा निर्भय होकर विचरता है और उसे कभी विघ्न-बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ता।

(३) प्रेम—सफलता का तीसरा सिद्धांत है—प्रेम। इसका आशय है कि विश्व से एकता, परिस्थिति के अनुकूल वातावरण। प्रेम का अर्थ है—अपने पड़ोसियों और सभी संसर्ग में आने वालों से अपनी एकता और अभेदता का अनुभव करना, दुनिया में कोई पराया नहीं है, सभी आपस में भाई-बहिन हैं। अगर किसी के दिल में प्रेम की भावना न हो तो उसमें चाहे और कितने ही गुण हों सब व्यर्थ हैं।

सबके दिलों को जीतने का एकमात्र उपाय यही है कि उनसे प्रेम करें और यही भगवान् को प्रसन्न करने का सर्वोत्तम मार्ग है।

(४) प्रसन्नता—यह भी सफलता का एक आवश्यक साधन है। इसके लिए वेदांत के सिद्धांत को समझना और तदनुकूल आचरण करना अनिवार्य है। वेदांत शिक्षा देता है कि, तुम अपने शरीर को ही सब कुछ मत समझो। यह तो अन्य बाहरी वस्तुओं की तरह एक वस्तु है। अगर मनुष्य बाहरी चीजों के मोह को त्याग दे तो उसको कभी कष्ट नहीं हो सकता। संसार के नाते-रिश्तों में कोई सार नहीं है। ये तो खिलौने या नाटक के पात्रों की तरह हैं। जैसे वे सब अपना-अपना पार्ट अदा करते जाते हैं, वैसा ही हाल हमारे सगे-संबंधियों का भी समझना चाहिए। इनसे अधिक ममता रखने के कारण मनुष्य में ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि के भाव प्रकट होते हैं और इन्हीं के परिणामस्वरूप मनुष्य दुःख का अनुभव करता है। इसलिए जो मनुष्य सांसारिक वस्तुओं का मोह छोड़कर व्यवहार करेगा, वह सदा प्रसन्न रह सकेगा।

(५) निर्भयता—सांसारिक जीवन की सफलता के लिए निर्भयता का गुण बहुमूल्य है। भयभीत रहने वाला मनुष्य प्रत्येक कार्य में हाथ डालते हुए आगा-पीछा करता रहता है, जिससे सफलता संदिग्ध हो जाती है। जो मनुष्य अपनी आत्मा को जितना पहचानने लगता है, वह निर्भयता के उतने ही निकट पहुँच जाता है। एक बार हिमालय के ऊपर मेरी (स्वामी राम की) रीछों से भेंट हो गई। पर मेरे अंदर भय का भाव पैदा न हुआ क्योंकि मैं अपने को शरीर या मस्तिष्क तो मानता नहीं। मैं तो साक्षात् ब्रह्म हूँ, फिर भय किस बात का ? मैंने ज्योंही आँखें फाड़कर रीछों की तरफ देखा वैसे ही वे सब भाग गये। इसी प्रकार भेड़िया और चीता भी मेरे देखने पर चले गये थे। इसलिए अपनी महान् शक्ति को समझकर मनुष्य को सदैव निर्भय रहना चाहिए।

(६) आत्म-विश्वास—अपने में पूरा विश्वास रखना सफलता में सबसे बड़ा सहायक है। उदाहरण के लिए, आकार की दृष्टि से हाथी पहाड़ जैसा लगता है और उसके मुकाबले में सिंह का आकार

बहुत छोटा रहता है। पर एक सिंह को देखकर हाथियों का पूरा दल भाग जाता है। वेदांत का कहना है कि मनुष्य अपने को किसी से कम न समझे। वह अपने को शक्तिशाली और ब्रह्म की प्रतिमूर्ति ही समझे, बस सफलता निश्चित है।

(७) पवित्रता—यह भी एक बड़ा गुण है। अपवित्र विचारों और कार्यों वाले व्यक्ति से सब घृणा ही प्रकट करेंगे, चाहे वह विद्वान् और शूरवीर ही क्यों न हो। पवित्रता से ही आत्मिक बल बढ़ता है, आत्मिक बल सफलता का आधार है।

देश-भक्ति और समाज-सेवा के महान् प्रेरक—

कुछ लोग यह कहा करते हैं कि स्वामी रामतीर्थ ने देशोन्नति और समाज-सेवा की दिशा में कोई सक्रिय योजना का समारंभ नहीं किया। जिस प्रकार स्वामी विवेकानंद ने 'रामकृष्ण मिशन' के रूप में एक महान् लोकसेवी संस्था की स्थापना कर दी, जिससे आज तक लाखों व्यक्ति लाभ उठा रहे हैं, वैसा कोई आयोजन स्वामी रामतीर्थ चाहते तो कर सकते थे। निःसंदेह स्वामी रामतीर्थ और विवेकानंद को धार्मिक दृष्टि से समतुल्य ही समझा जाता है, पर दोनों में कुछ अंतर भी था। कुछ धार्मिक साधक तो आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों में समन्वय करने की प्रवृत्ति रखते हैं और कुछ व्यावहारिक पक्ष की आध्यात्मिक प्रगति में अनावश्यक समझकर उसकी तरफ ध्यान नहीं देते।

स्वामी राम भी आधुनिक शिक्षा प्राप्त युवक होने और पश्चिम के एमर्सन, कैंट, वाल्ट ह्विटमैन, थोरो, हक्सले आदि दार्शनिकों के अध्यात्म और मानवता संबंधी विचारों से भी पूर्ण परिचित होने के कारण देश और समाज के महत्त्व को पूर्ण रूप से समझते थे। पर वे आत्मिक जगत् में इतना ऊपर पहुँच चुके थे कि उनको संसार की छोटी-छोटी घटनाएँ और विभिन्न जातियों के उतार-चढ़ाव खेल की तरह जान पड़ते थे और वास्तव में जो व्यक्ति जीवन और मरण में, सृष्टि और विनाश में कोई अंतर नहीं मानता, वह स्वाभाविक दुःख-सुख अथवा हर्ष-शोक को भी अधिक महत्त्व कैसे दे सकता है ?

हम स्वामी राम की तुलना विवेकानंद से करने के बजाय उनके गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस से करना ज्यादा उचित समझते हैं। वे भी समाज और देश की वास्तविक अवस्था को अच्छी तरह पहचानते थे और उसी के अनुकूल लोगों को उपदेश देते थे, पर वे सांसारिक स्तर से इतना ऊपर उठ गये थे कि किसी व्यावहारिक कार्य करने की उनको कभी प्रवृत्ति ही नहीं हुई। स्वामी राम से जब किसी ने इस प्रकार के कार्यों के लिए आग्रह किया तो उन्होंने सदा यही उत्तर दिया कि—"दुनिया में जो इतने कार्यकर्ता, सभाएँ, संस्थाएँ काम कर रही हैं, वे सब मेरी ही हैं, अलग संस्था खड़ी करने की क्या आवश्यकता है ?" फिर वे अधिक समय तक संसार में ठहरे ही नहीं, नहीं तो शायद स्वयं नहीं तो शिष्यों द्वारा कोई कार्य कराते, जैसा कि श्री रामकृष्ण ने स्वामी विवेकानंद को प्रेरणा देकर कराया था।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि स्वामी राम ने देश और समाज का कार्य किया ही नहीं। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है कि उन्होंने अपने उपदेशों में लोगों को सदा सेवा और परोपकार का जीवन बिताने की प्रेरणा दी। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुषों के मुख से निकले हुए शब्द हमेशा सत्य होते हैं और सुनने वालों पर निश्चय ही प्रभाव डालते हैं। स्वामी राम की प्रेरणा से उसी समय लाखों व्यक्तियों का जीवन सुधर गया और आज तक भी उनके उपदेशों से लोग प्रेरणा ग्रहण करते रहते हैं। ईश्वरीय-सत्ता के उच्च स्तर पर पहुँचे हुए अधिकांश साधक कार्य रूप में जनता का मार्ग-दर्शन करने के बजाय विचारों द्वारा ही परिस्थिति को बदलने का उद्योग करते हैं।

इसीलिए स्वामी राम ने कॉलेज की शिक्षा समाप्त करके उच्च सरकारी अधिकारी बनने के बजाय अध्यापक का कार्य अधिक पसंद किया, जिसमें बहुसंख्यक विद्यार्थियों को आत्मोत्थान की शिक्षा देने का अवसर मिलता है। इसके बाद जब उनका आत्मिक स्तर और ऊँचा हो गया, तो उन्होंने अध्यापकी छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लिया, जिसका उद्देश्य समस्त समाज को सत्य, धर्म, कर्तव्य का उपदेश देना था। इस प्रकार स्वामी राम ने एक भिन्न तरीके से वही

कार्य किया, जो समाज के एक सच्चे मार्गदर्शक को करना चाहिए। उन्होंने भारतवासियों को वही उपदेश दिया, जो उस स्थिति में उनको पतन से निकालकर उत्थान की ओर अग्रसर करने के लिए आवश्यक था। उन्होंने देखा कि उद्योगहीनता, ऊँच-नीच का झूठा अहंकार, धर्म के नाम पर कुसंस्कारों और पाखंडों का पालन आदि ही ऐसे दोष हैं, जिनके कारण भारतवासी अवनति के गड्ढे में पड़े हैं।

अपनी आत्मा को पहचानिये—

यह देखकर स्वामी राम ने अपनी पूरी शक्ति भारतवासियों को यह समझाने में लगा दी कि वे ज़बानी वेदांत को त्यागकर असली वेदांत को समझें और तदनुसार आचरण करें। उन्होंने अमेरिका और भारत दोनों में जितने भाषण दिये, उन सबमें यही ध्वनि गूँजती है कि भारतवासी वेदांत के सच्चे स्वरूप को भूल गये हैं और इसीलिए आज कर्मवीर के बजाय भिक्षुक बने हुए हैं। हमारे देश में इस समय वेदांत 'स्वामी-संन्यासियों' द्वारा ही आलोचना-प्रत्यालोचना का विषय बना गया है, इसलिए सर्वसाधारण उसका आशय संसार को त्यागकर किसी एकांत स्थान में बैठ जाना ही समझते हैं, पर स्वामी राम 'वेदांत' की व्याख्या करते हुए कहते थे—

"वेदांत चाहता है कि आप कर्म प्रवृत्ति की तीव्र लगन के द्वारा परिच्छन्न आत्मा अर्थात् क्षुद्र अहंकार से ऊपर उठें। वेदांत चाहता है कि आप काम को केवल काम की खातिर ही करें। वेदांत में 'कर्म' का अर्थ है—अपनी असली आत्मा से मेल और विश्व से अभिन्नता। वेदांत के अनुसार घोर कर्म ही विश्राम है। सभी सच्चा काम में आराम ही हैं। शरीर को तो कर्मशील उद्योग में निरत रखने से, मन को शांति और प्रेम में तल्लीन रखने से यहीं इसी जन्म में पाप और ताप से मुक्ति मिल सकती है।"

स्वामी राम ने विदेशों में प्रश्नकर्ताओं की शंकाओं का उत्तर देते हुए सदैव यही कहा कि—आप वेदांत सिद्धांत की सचाई का निर्णय वर्तमान समय के भारतवासियों की निम्न स्थिति और आचरणों को देखकर मत कीजिये। जिस प्रकार महान् क्षमा व्रतधारी महात्मा ईसा के सिद्धांतों का निर्णय आजकल के संसार भर में युद्ध

का दावानल भड़काने वाले ईसाइयों से नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार "अहं ब्रह्मास्मि" कहकर भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले भारतीयों को देखकर 'वेदांत' का उपेक्षणीय नहीं बतलाया जा सकता। व्यावहारिक अथवा असली 'वेदांत' का अर्थ है—

"साहसपूर्वक आगे बढ़ाने वाला परिश्रम—न कि जकड़ देने वाला आलस्य, काम में आराम—न कि थकाने वाली बेगार-वृत्ति, चित्त की शांति—न कि संशयरूपी घुन, संगठन—न कि विघटन, समुचित सुधार—न कि लकीर के फकीर, गंभीर और सत्य भावना—न कि लच्छेदार बातें, तथ्य और सत्यभरी कविता—न कि कपोल-कल्पित कहानियाँ, घटनाओं के आधार पर तर्क—न कि प्राचीन लेखकों के प्रमाण, जीता-जागता अनुभव—न कि जीवन शून्य वचन।"

यही सब बातें मिलाकर व्यावहारिक वेदांत बनता है। भारतीय शास्त्रों के गंभीर अर्थ में अगर गोता लगाया जाय तो यही निष्कर्ष हाथ लगता है। इसलिए स्वामी राम भारतवासियों को वेदांत सिद्धांत के अनुसार वर्तमान त्रुटियों को दूर करने के लिए कहा करते थे—

(१) भारतवर्ष के प्यारे, पुराण-प्रिय, शास्त्र-परायण भाइयों ! शास्त्रों का उचित प्रयोग करो। देश का धर्म तुमसे जाति-पाँत के कठोर बंधनों को ढीला करने और जाति-भेद की तीक्ष्ण कटुता को राष्ट्रीय सहानुभूति से दबा देने को कहता है।

(२) जिन्हें भूल से तुम 'पतित' कहते हो, वे अभी 'उठे नहीं' हैं। वे अभी उसी प्रकार विद्यालय के नये विद्यार्थी हैं, जिस प्रकार किसी समय तुम भी थे।

(३) मेरे प्यारे हिंदुओं ! परिवर्तन—समयानुकूल परिवर्तन से घृणा मत करो और न पुरानी रीतियों तथा वंश-परंपरा पर अधिक जोर दो। ये बातें तुमको मनुष्यता के आसन से गिराने वाली है।

(४) ओह, चौका-चूल्हे वाले धर्म ! तुझे क्या कहा जाय, जो अपरिमित और अमर आत्मा को किसी गैर के भोजन से बिगड़ा हुआ मानता है। तू सचमुच ही शोचनीय है।

(५) यदि हम एक दिन हजारों भूखों को भोजन करा दें तो इससे क्या लाभ ? इस प्रकार का विवेकहीन दान कुछ 'सभ्य दरिद्रों' को उत्पन्न करने में भले ही सहायता दे, इससे अधिक कुछ नहीं।

(६) सभ्य-समाज में स्त्री को निर्जीव पदार्थ का दर्जा दिया जाता है। पुरुष अपने कार्यों में सर्वथा स्वतंत्र है, स्त्री के हाथ-पॉव जकड़े हुए हैं।

(७) सभ्य-समाज के मुख पर यह बड़ा भारी कलंक है कि उसने स्त्री को व्यापार की चीज बना डाला है। जिस प्रकार पेड़, घर, धन व साम्राज्य मनुष्य की संपत्ति होती है, उसी प्रकार स्त्री भी मनुष्य की संपत्ति मान ली गई है।

(८) स्त्रियों, बालकों तथा श्रमजीवी जातियों (शूद्र कहलाने वालों) की शिक्षा पर ध्यान न देना, उन्हीं शाखाओं को काट गिराना है, जिनके आश्रय पर हम खड़े हुए हैं। इतना ही नहीं, यह तो राष्ट्रीयता के वृक्ष की जड़ पर ही घोर कुठाराघात करना है।

(९) सर्वोपरि श्रेष्ठ दान जो आप किसी मनुष्य को दे सकते हैं, वह विद्या या ज्ञान का दान है। आप किसी मनुष्य को आज भोजन खिला दें तो कल वह फिर उतना ही भूखा हो जायेगा। आप उसको कोई कला सिखा दें तो वह जीवनपर्यंत अपनी जीविका प्राप्त करने में समर्थ हो जायेगा।

(१०) धर्म का सार-तत्त्व है—अपने ऊपर से पर्दे का हटाना, अर्थात् अपने आपका रहस्य समझना। सच्चे धर्म का आशय 'ईश्वर' शब्द पर विश्वास करने से भी पहले 'भलाई' पर विश्वास करना है।

इस प्रकार स्वामी राम ने देश में यथार्थ ज्ञान की वह लौ जलाई, जिसके प्रकाश में हमारी अकर्मण्यता और अंध-विश्वास का निराकरण होकर आत्मोद्धार के दर्शन होने लगे। स्वामी जी आज हमारे बीच में नहीं हैं; पर उनकी वाणी, उनकी अंतरात्मा निरंतर हमारी पथ प्रदर्शक बनी रहेगी।

❐ ❐

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।